International Journal of Hindi Research
www.hindijournal.com
ISSN: 2455-2232
Received: 29-10-2021, Accepted: 10-11-2021, Published: 30-11-2021
Volume 7, Issue 6, 2021, Page No. 118-119

भक्तिकाल की सार्थकता

अर्चना शर्मा
एसोसिएट प्रोफेसर, हिंदी विभाग, रामजस कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, भारत

सारांश
प्रस्तुत शोध–आलेख का ध्येय हिंदी साहित्येतिहास के 'स्वर्णयुग' अर्थात् भक्तिकाल की वर्तमान सन्दर्भों में प्रासंगिकता और सार्थकता को लिपिबद्ध करना है। भक्ति के अविरल स्रोत के कारण भक्तिकाल ने अखिल भारतीय स्तर पर सामाजिक सामंजस्य की प्रतिष्ठापना की । शोध – आलेख के माध्यम से भक्तिकाल के सामजिक, राजनैतिक, आर्थिक एवं प्रासंगिक आयामों पर सोदाहरण विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है ।

मूल शब्दः भक्तिकाल, सार्थकता, साहित्येतिहास, मध्यकाल, साहित्य, स्वर्णयुग

प्रस्तावना
हिंदी साहित्येतिहासिक परंपरा के 'स्वर्णयुग' की सार्थकता बहुआयामी है। यूँ तो यह किसी साक्ष्य अथवा प्रमाण की मोहताज नहीं। किंतु साहित्य के इतिहास पर बात करते समय प्रायः कल्पना मात्र के घोड़े दौड़ाना भी उचित नहीं।
भक्तिकाल का उद्भव और विकास मध्यकाल की एक युगांतकारी घटना है। इस आंदोलन से प्रथमतः भारत के किसी विशेष भूभाग के निवासी ही प्रभावित नहीं हुए, अपितु समग्र राष्ट्र की शिराओं में इस आंदोलन ने अपनी ऊर्जा स्पंदित कर दी। यह एक ऐसा ज़बरदस्त ज्वार था कि उत्तर, दक्षिण, पूर्व, पश्चिम सब मिलकर एक हो गए।
अक्सर ..... भक्तिकाल को अनेक दृष्टियों से देखा–परखा और सिद्ध किए जाने का प्रयास किया जाता रहा है। इस प्रतिस्पर्धा में चंद इतिहासकारों ने अपने मत को पुष्ट–मात्र करने के लिए भक्तिकाल की सार्थकता को ताक पर रख दिया। मेरा मत है कि ईश्वर जीवन का परम सौंदर्य, परम सत्य, परम वैभव और परम मूल्य है। ऐसे ईश्वर के सामने कभी तो मनुष्य अपने–आपको बहुत दीन, हीन, निरीह, निःसहाय रूप में व्यक्त करता है –

कबीर कूता राम का, मुतिया मेरा नाउँ।
गले राम की जेवड़ी, जित खींचो तित जाउँ।।

और सभी मनुष्य अपने–आपको अपने इष्ट के साथ संबद्ध रूप में देखता हुआ, अपने में ब्रह्मत्व की परिकल्पना कर लेता है –

"अहम् ब्रह्मास्मि।"

भक्तिकाल के दौरान दोनों प्रकार की भावनाएँ साधक में देखने को मिलती हैं। यदि ग़ौर करें तो मनुष्य की दीनता और प्रभुत्व ऐसे स्थायी गुण हैं जो प्रत्येक काल में उसमें विद्यमान रहते हैं और अभिव्यक्ति के लिए आकुल होते रहते हैं।
भक्तिकाल की सार्थकता सामंतवाद के ह्रास के रूप में भी देखी जा सकती है। डॉ० रामविलास शर्मा के अनुसार –
"जायसी या सूर एक ही समाज या एक से ही समाज के प्राणी थे। यह समाज ऐसा था, जिसमें नये व्यापारी वर्ग की बढ़ोत्तरी के साथ–साथ, कारीगरों, जुलाहों और किसानों में मुक्ति की आकांक्षा बढ़ रही थी। ..... जीवन की अस्वीकृति के विरोध में सामंती शिकंजा ज़रा ढीला होने पर, जब जनता को सांस लेने का अवकाश मिला, तब उसने जीवन में अपनी आस्था प्रकट करनी शुरू की। उसने तरह–तरह के प्रतीकों द्वारा अपने हृदय के मानव–सुलभ भावों को व्यक्त करना आरंभ कर दिया। कबीर, सूर और जायसी इस जीवन की स्वीकृति की वाणी हैं। इस वाणी को सामंतों ने दबा रखा था, उस दबाव को तोड़कर ब्रज और अवध की धरती से यह प्रेम की सरस धारा फूट पड़ी। .... यह भक्तिकाल का सामंत–विरोधी पक्ष है, जिसे भुलाना सही न होगा।"[1]
मेरा व्यक्तिगत मत यह भी है कि भारतवर्ष की धरा पर प्रथम पुनर्जागरण 8वीं शताब्दी में हुआ जिसके प्रधान प्रणेता शंकराचार्य थे। शंकर ने गोचर दृष्टि को मिथ्या घोषित किया और अद्वैत मत की स्थापना की। इस प्रक्रिया में उन्होंने नास्तिक परंपरा, जो देश में ही नहीं अन्य देशों में भी प्रतिष्ठित हुई थी, का विरोध किया और आस्तिक परंपरा की पुनर्प्रतिष्ठा की। भक्तिकाल पर इसका प्रत्यक्ष रूप देखा जा सकता है।
भक्तिकाल में श्रमण संस्कृति के वैशिष्ट्य को वैष्णव आचार्यों ने स्वीकार किया था। इसके अनुसार – भक्ति के क्षेत्र में सभी मनुष्य समान हैं।
भक्तिकालीन निर्गुण परंपरा ने राम के निर्गुण स्वरूप को मुखर किया। इनके अनुसार राम अलक्षित हैं। चारों वेद, सारी स्मृतियाँ और पुराण तथा नौ व्याकरण कोई उस निर्गुण राम का मर्म नहीं समझ पाया है –

"निर्गुण राम जपहु रे भाई।
अविगत की गति लखी न जाई।
चारि वेद और सुम्रित पुरांना।
नौ व्याकरण मरम न जाना।।"[2]

निर्गुण राम ने अखिल भारतीय जनमानस के अमूर्त भावों को साध लिया।
भक्तिकालीन संतों का एक प्रगतिशील पहलू यह भी है कि उन्होंने हिंदुओं, मुसलमानों, योगियों एवं अन्य साधकों के ईश्वर विषयक सांप्रदायिक मतभेदों का विरोध करके अनेक स्थान पर सर्वव्यापक, सर्वग्राहक ब्रह्म की प्रतिष्ठा की।
भक्तिकाल की सार्थकता ही है कि वह स्पष्ट और प्रभावशाली रूप में सामाजिक जीवन के साथ संपृक्त होता है। सूर जैसा सौंदर्य और माधुर्य का कवि भी गोपियों के माध्यम से ईश्वर और साधक के मध्य आत्मा और परमात्मा का ऐक्य स्थापित कर देते हैं। संत

गरीबदास को ही लें। विरह की जागृति मन में होने पर बाहर भटकने की आवश्यकता का लोप मालूम हुआ। तब मन मथुरा, तब द्वारिका और स्वयं ही जगन्नाथ हो गए –

"गरीब मन मथुरा तन द्वारका, तब योग जगन्नाथ।
बिरहे की परबी लाई, तब अड़सठ तीरथ मात।"[3]

मैं आधुनिक काल के पुनर्जागरण को भक्ति आंदोलन से ही जोड़कर देखती हूँ, विलग कर नहीं! गोस्वामी जी ने सगुण रूप में राम के स्वरूप को जन–जन के हृदय तक पहुँचाया और राम के जन्म का कारण 'बालकाण्ड' में बताते हुए कहा –

"जब जब होइ धरम कै हानी।
बाढ़हि असुर महा अभिमानी।।
करहिं अनीति जाहि नहिं बरनी।
सौदहिं विप्र धेनु सुर घरनी।
तब–तब प्रभु धरि विविध सरीरा।
हरहिं कृपा निधि सज्जन पीरा।।
असुर मारि थापहिं सुरन्ह राखहिं निज श्रुति–सेतु।
जब विस्तारहिं बिसद जस राम जन्म कर हेतु।।"[4]

निष्कर्ष

अस्तु, भक्तिकाल को साहित्येतिहाकारों एवं इतिहासकारों द्वारा प्रायः 'प्रतिक्रिया' एवं 'प्रतिरोध' के रूप में व्याख्यायित किया जाता रहा है। मेरा स्पष्ट मत है कि 'भक्तिकाल की सार्थकता' का प्रश्न अपेक्षाकृत अधिक महत्त्वपूर्ण है। हमें भक्तिकाल की अखिल भारतीय सहित वैश्विक सार्थकता के प्रश्न का हल जीवन और जनमानस के संदर्भ में खोजने का प्रयास करना चाहिए।

संदर्भ सूची

1. डॉ० रामविलास शर्मा और परंपरा का मूल्यांकनः: गीता शर्माः संस्करण – 1991ः वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, पृष्ठ–72
2. कबीर ग्रंथावली (संपा०)ः: पारसनाथ तिवारीः संस्करणः 1961ः हिंदी परिषद्, प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रयाग, पद–153
3. रत्नसागरः: गरीबदासः (संस्करणः 1950) बेलवेडियर प्रेस, इलाहाबाद, पृष्ठ–30
4. तुलसी की साहित्य साधनाः: लल्लन रायः संस्करणः 1982ः मंथन प्रकाशन, रोहतक, पृष्ठ–51